कक्षा में एक शिक्षक पूरी कोशिश कर रहा है बच्चों से दोस्ती करने की। सभ
कुछ आज़मा लिया उसने। पर बच्चे हैं कि डरे-सहमे जड़वत बैठे हैं। क्या आ
के साथ कभी ऐसा हुआ है? ऐसे ही कुछ अच्छे-बुरे अनुभवों की डायरी
है जॉन होल्ट की किताब 'बच्चे असफल कैसे होते हैं'। जॉन होल्ट ने कई साल
तक तरह-तरह के अनुभवों में से गुज़रने के बाद शिक्षक का पेशा अपनाय
उन्होंने बहुत से अलग-अलग किस्म के स्कूलों में पढ़ाया।

जुलाई 25, 1958

बिल हल की कक्षा का अवलोकन करते समय...

पिछले छः महीनों में जो कुछ देखा, समझा व सीखा उसमें एक अहम बात साफ-साफ उभरकर आई है। जो कुछ कक्षा में घटता है, असल में वह कतई नहीं होता जो शिक्षक सोचता है। कम से कम मेरी कक्षा में निश्चित रूप से वह नहीं होता था जो मैं सोचा करता था। वर्षों से मेरे दिमाग में अपनी कक्षा की एक छवि रही है। पर जिस वास्तविकता को मैं पहचानता रहा, वह असल में केवल आंशिक रूप से ही शारीरिक थी और आंशिक रूप से मानसिक व आत्मिक। दूसरे शब्दों में कहूँ तो कह सकता हूँ कि मैं केवल यह सोचता व मानता रहा कि मैं कमोबेश जानता हूँ कि मेरी कक्षा के छात्र क्या कर रहे हैं, क्या सोच रहे हैं, और क्या महसूस कर रहे हैं। आज समझ पा रहा हूँ कि वास्तविकता की मेरी छवि प्रायः पूरी तरह से ही गलत थी। मैं यह पहले क्यों नहीं पहचान सका?

कमरे के इस कोने
देख रहा हूँ। इस इरा
बल्कि यह जानने के
कितने भिन्न हैं जिन
अचानक बैठे-बैठे ही
हम बच्चे का नाम पु
उसे देखने से यह अ
वह कक्षा में क्या कर
हो तो उसके लिए
से देखना ज़रूरी है।

कविता-पाठ के
को तो सामूहिक रूप
अधिकांश बच्चे, क
देते। बल्कि जिन्हें स

बच्चे असफल कैसे होते हैं

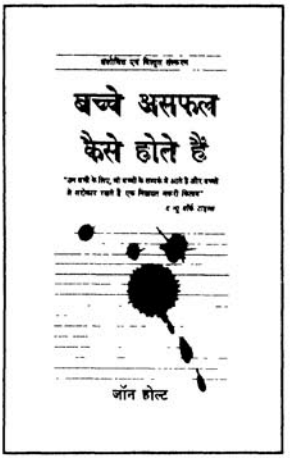

ठे-बैठे मैं कक्षा के बच्चों को
हीं कि उनकी चौकसी करूँ,
कि ये बच्चे उन बच्चों से
ढ़ाया करता था। और तब
हसास हुआ कि जिस समय
र उसे बुलाते हैं, उस समय
नहीं लगाया जा सकता कि
है। अगर सच में यह जानना
ताए लम्बे समय तक गौर

जब काफी सारे बच्चे, कहने
म करते हैं, लेकिन अक्सर
रहा है, उस पर ध्यान नहीं
दा ध्यान देना चाहिए वे ही

सबसे कम ध्यान देते थे। जिन्हें सवालों के उत्तर आते थे, वे यह सुनिश्चित कर लेते कि शिक्षक यह जान ले कि वे उत्तर जानते हैं। सो उनके हाथ हमेशा हवा में लहराते रहते। सही उत्तर जानने के कारण, वे मूर्खतापूर्ण उत्तर देने वाले अपने सहपाठियों का पूरा लुत्फ़ भी उठा सकते थे। पर सभी कक्षाओं में ऐसे छात्र कम संख्या में होते हैं। तो फिर उन असफल बहुसंख्यक छात्रों का क्या हाल रहा होगा?

उनकी एकाग्रता इस बात पर निर्भर थी कि कक्षा में क्या हो रहा है। कक्षा के भावनात्मक तापमान के बढ़ते ही उनके कान खड़े हो जाते थे। अगर कोई झड़प हो जाती या कोई सहपाठी परेशानी में फँस जाता या गलत उत्तर देने पर किसी बच्चे का मज़ाक उड़ता तो वे हमेशा चौकन्ने रहते। और अगर किसी पिछड़े हुए बच्चे को ऐसी कोई आसान सी चीज़ समझाई जाती, जो हर कोई जानता हो, तो उनके हाथ हिलते और वे

"ओह-ओह" कहकर उसकी दुर्दशा का मज़ा लेते। पर जब कभी कोई चीज़ उन्हें समझाई जाती, सवाल पूछे जाते या कोई चर्चा होती तो उनका ध्यान या तो बिल्कुल नहीं रहता या कम रहता। कुछ सपनों में खोए रहते। उन्हें झटके से धरती पर बुलाने की मेरी चेष्टाएँ, उनके दोस्तों को मज़ेदार लगतीं, पर सपने देखने का सिलसिला वे जारी रखते। कुछ बच्चे पर्चियों की अदला-बदली करते, कुछ फुसफुसाते, कुछ इशारों में बातचीत करते और बहुत-से किताबों, कागज़, या मेज़ पर ही चित्र बनाते या रबर, पेंसिल, स्केल से ही खेलते रहते।

उन्हें सपनों में खोए हुए कितनी ही बार क्यों न पकड़ा जाता, कितनी ही शर्मिन्दगी का अहसास उन्हें क्यों न होता, पर यह आदत बनी रहती। बावजूद इसके कि हम अपनी कक्षा को एक रोचक व सुरक्षित स्थान बनाने का हर सम्भव प्रयास करते। कक्षा उनके लिए फिर भी एक उबाऊ, भ्रमित करने वाली और खतरनाक जगह ही बनी रहती। यानी सपनों में खो जाना ही पलायन का अकेला रास्ता उनके पास रह जाता।

इन हालातों में अगर शिक्षक बच्चों को केवल चुप या व्यस्त रखने के बदले सचमुच कुछ पढ़ाना भी चाहे, तो वह बहुत कुछ हासिल नहीं कर सकता। सच पूछें तो किसी कक्षा में बैठा कोई शिक्षक ठीक उस स्थिति में होता है जैसे घुप्प अंधेरी रात में जंगल में टॉर्च थामे, भटकता हुआ कोई व्यक्ति। जहाँ भी वह टॉर्च चमकाता है, उस ओर के जीव-जंतु टॉर्च की रोशनी में आ जाने के कारण असहज हो जाते हैं और उनका व्यवहार बदल जाता है। यानी निरीक्षण की प्रक्रिया ही व्यवहार को बदल देती है। व्यक्ति अपनी टॉर्च की रोशनी चाहे जिस ओर क्यों न फेंके, वह रात्रि-जीवन के बारे में बहुत कुछ नहीं जान पाता।

कक्षा में शिक्षक अपना ध्यान कभी इस, तो कभी उस बच्चे की ओर केन्द्रित करता है। पर ऐसा करते ही बच्चों का व्यवहार तत्काल बदल जाता है। जब कोई शिक्षक किसी एक बच्चे पर अपना ध्यान केन्द्रित कर, यह जानने की कोशिश करता है कि बच्चा क्या कर या पूछ रहा है, या वह स्वयं क्या समझा रहा है, तो उस समय वह यह नहीं जान पाएगा कि बाकी क्लास क्या कर रही है। अगर वह यह देखकर कि दूसरे बच्चे कुछ ऐसा कर रहे हैं जो उन्हें नहीं करना चाहिए, बच्चों को

टोक भी दें, तो भी बच्चों को यह पता होता है कि उन्हें केवल तब तक इंतज़ार करना है जब तक शिक्षक अपना काम दोबारा न शुरू कर दे। जो लोग कक्षा का अवलोकन करते हैं, वे यह सब क्यों नहीं देख पाते? कारण यह है कि उनमें से कुछ तो इतने लम्बे समय तक किसी समूह के बीच बैठते ही नहीं कि बच्चे उनकी उपस्थिति को सामान्य मान सकें। जो बैठते भी हैं, उनका ध्यान हमेशा बच्चों पर कम और शिक्षकों पर अधिक रहता है।

छात्र-शिक्षक (वे लोग जो शिक्षक बनने का प्रशिक्षण ले रहे होते हैं) अवश्य लम्बे समय तक किसी एक कक्षा में समय बिताते हैं। पर वे यह मानकर चलते हैं कि उनका काम एक *प्रवीण गुरू* को देखकर उससे *पढ़ाना सीखना* है, बच्चों को व्यवस्थित रखने के गुर सीखना है। उनका सरोकार केवल बच्चों को सम्भालने व नियंत्रित करने भर से होता है, बच्चों को समझने का वे कोई प्रयास नहीं करते। वे केवल शिक्षक को देखते हैं और शिक्षक की नज़र जिस चीज़ पर पड़े, सिर्फ उसी पर वे नज़र डालते हैं। इस तरह वे एक अनमोल अनुभव का काफी कुछ गँवा बैठते हैं।

मुझे तो यह आवश्यक लगता है कि ऐसी स्थितियाँ पैदा की जाएँ, जहाँ दो अनुभवी शिक्षक एक ही कक्षा में साथ-साथ हों। बच्चों के एक समूह को पढ़ाते और उनका अवलोकन करते हों, ताकि वे बच्चों को बातचीत करते, सोचते, विचारते व काम करते देखें और यह समझ सकें कि आखिर बच्चे क्या देख व सुन पाते हैं।

यह तो तय है कि स्कूल के पास ऐसी कोई वित्तीय व्यवस्था नहीं है। वे तो बमुश्किल एक कक्षा में एक शिक्षक उपलब्ध करा पाते हैं। कभी-कभी लगता है कि कुछ संस्थान इस काम में मदद कर सकते, तो अच्छा होता। वे तो हमेशा ही तमाम ऐसी महत्वाकांक्षी योजनाओं के लिए अनुदान देते रहते हैं, जिनका परिणाम केवल प्रचार या कोई सैद्धांतिक शोध-परियोजना होती है। शायद उन्हें लगता है कि दो शिक्षकों पर इस काम के लिए पैसा खर्च करना फिजूल है। पर मैं उनसे सहमत नहीं। जब कभी मैं इस वर्ष के अनुभवों पर सोचता हूँ तो चकित रह जाता हूँ। इस दौरान मैंने बच्चों के व्यवहार और विचारों के बारे में इतना कुछ जाना है कि अनुसंधान व चिन्तन के तमाम नए रास्ते खुल गए हैं। मैं तो उन खोजों व उस ज्ञान के विचार से ही अभिभूत हो जाता हूँ जो

शिक्षक ऐसे मौके पाने पर स्वयं प्राप्त कर सकते हैं।

ऐसे अवलोकन से कुछ स्पष्ट संकेत इस बारे में भी मिलते हैं कि किसी वयस्क को कक्षा में अकेले काम करते समय क्या करना चाहिए। और तीन वर्षों बाद, अपनी कक्षा में मैं वह सब करने भी लगा जिसका जेम्स हर्नडन ने अपनी पुस्तक *हाउ टु सरवाइव इन योर नेटिव लैंड* में वर्णन किया है। सबसे पहले तो शिक्षक एक भौतिक, बौद्धिक व भावनात्मक जगह बनाता है, जहाँ बच्चे एक रोचक जीवन बिता सकें। *इसके बाद* ही वह यह देख सकता है कि बच्चे उस जगह का कैसा उपयोग करते हैं।

बर्नाड शॉ के नाटक *सीज़र और क्लिओपैट्रा* में क्लिओपैट्रा अपनी परिचारिकाओं से कहती है कि सीज़र ने उसे कहा है कि वह अपनी परिचारिकाओं को, जो कुछ वे चाहें, कहने की छूट दे। और जब क्लिओपैट्रा ने जानना चाहा कि इस छूट का मकसद क्या है तो सीज़र का उत्तर था, "ताकि तुम यह जान सको कि *वे क्या हैं?*" हमें भी अपने छात्र-छात्राओं के बारे में जानना है कि आखिर वे क्या हैं? और यह जानने के लिए हमें फाइलों में दबे छद्म मनोवैज्ञानिक निदानों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है जिनमें बच्चे की कमियों की लम्बी फेहरिस्त हो। बल्कि आवश्यकता यह है कि हम उन्हें वैचारिक स्वतंत्रता दें। बोलने, करने की छूट दें - उस सीमा तक, जितनी किसी स्कूल में दे पाना सम्भव हो।

अगर हम शिक्षक बच्चों पर अपनी गिद्ध दृष्टि केवल इसलिए टिकाए रखें कि हम यह देख सकें कि वे वह सब कर या नहीं कर रहे हैं जो कुछ उन्हें करना या नहीं करना चाहिए, तो यह तय है कि हम सबसे रोचक और महत्वपूर्ण बातों से वंचित रह जाएँगे। शायद यही कारण है कि वर्षों के अनुभव के बावजूद कई शिक्षक बच्चों के असली स्वभाव को इतना कम समझते हैं। जो माता-पिता अपने बच्चों को घर पर ही पढ़ाते हैं, वे इस दिशा में कहीं अधिक प्रगति कर पाते हैं। उनके पास अपने बच्चों की रुचियों को *जानने* का समय भी होता है और इच्छा भी। वे उन सभी इंगितों को पढ़ पाते हैं जिनके द्वारा बच्चे अपने मनोभाव अभिव्यक्त करते हैं। जब शिक्षक स्वयं को एक बॉस, थानेदार या न्यायाधीश की पारम्परिक भूमिका में देखना बंद करेंगे, केवल तभी वे अपने शिक्षार्थियों को पहचान पाएँगे। केवल तभी वे उनकी सहायता कर सकेंगे।

उस समय जब, बिना कोई लम्बी-चौड़ी योजना बनाए, मैं अपनी कक्षा के बच्चों को आपस में बात करने का, साथ-साथ काम करने का मौका देने लगा तब अचानक उनके अनुभवों, विचारों, रुचियों को भी जानने लगा। मुझे तब यह भी सूझने लगा कि मैं कैसे अपनी कक्षा को एक काम की जगह बना सकता हूँ। *सच यह था कि बच्चों को मैं कुछ सिखा पाता, उसके पहले उन्हें ही मुझे बहुत कुछ सिखाना पड़ा।*

इस दौरान मैंने एक छात्रा को *अपने दोस्तों से बात करते हुए* सुना तो जाना कि उसे घोड़े अच्छे लगते हैं। बच्ची को "पढ़ने में समस्या" आती थी। नई सूचना मिलते ही मैंने उसके आसपास *नेशनल वेल्वेट* की एक प्रति उपलब्ध करवा दी। जैसी मुझे आशा थी किताब उसे अच्छी लगी। उस कहानी और उसके पात्रों के प्यार ने उसमें अपनी "पढ़ने की समस्या" पर काबू पाने की इच्छा और ताकत जगाई। उसके मन में असल में यह भय बैठा हुआ था कि वह पढ़ना *सीख ही नहीं सकेगी* और ऐसा सिद्ध होने पर उसे लज्जित होना पड़ेगा।

जुलाई, 27, 1958

पिछले सालों में क्रमशः यह अहसास बढ़ा है कि बच्चे स्कूल को हर दिन, हर घंटे, शिक्षकों द्वारा आरोपित काम के संदर्भ में ही देखते हैं। पर शिक्षकों का नज़रिया तो यह नहीं है। कर्तव्यनिष्ठ शिक्षकों के मन में तो एक महान लक्ष्य की ओर यात्रा की एक छवि होती है। उन्हें लगता है कि उस गंतव्य की महिमा ही रास्ते की सारी तकलीफों और अड़चनों को सहनीय बना डालती है। अगर शिक्षक इतिहास पढ़ाता है तो उसे लगता है कि इतिहास सा रोचक, उत्तेजक या महत्वपूर्ण विषय कोई है ही नहीं। वह मानता है कि यह छात्रों का सौभाग्य है कि वे उसके ज्ञान में हिस्सा पा रहे हैं। शिक्षक अगर फ्रेंच पढ़ाता है तो वह फ्रेंच साहित्य के गौरव व बोलचाल की भाषा के माधुर्य और सौंदर्य के बारे में सोचता है। और फ्रांसीसी पाक-कला का शिक्षक पाक-कला के रस के विषय में सोचता है। उसे यह लगता है कि वह इन सभी आनन्दों को अपने शिक्षार्थियों को परोस रहा है। हर विषय का शिक्षक इस तरह अपने-अपने विषय के बारे में सोचता है।

स्पष्टतः इस सोच का कारण यह है कि शिक्षक यह मान लेते हैं कि उनकी और उनके छात्रों की रुचियाँ समान हैं। मुझे भी यही लगता था कि मैं अपने छात्रों का एक ऐसी यात्रा के

दौरान मार्गदर्शन कर रहा हूँ जो वे करना तो चाहते हैं, पर मेरे बिना पूरी नहीं कर सकेंगे। यह तो मैं भी जानता था कि यात्रा कठिन है, पर साथ ही यह विश्वास मन में था कि उस गंतव्य को बच्चे भी उतना ही साफ-साफ देख पाते हैं, जितना मैं। और तो और, मैं तो यह भी मानता था कि वे वहाँ तक पहुँचने को भी उतने ही आतुर हैं, जितना मैं। उस समय मुझे यह बेहद आवश्यक लगता था कि मैं छात्रों में यह भावना जगाऊँ कि हम जिस ओर बढ़ रहे हैं वह एक सार्थक गंतव्य है।

आज मैं जानता हूँ कि इस आशय से मैंने बच्चों को जो कुछ भी कहा होगा, वह सब निरर्थक ही था। मैं तो शायद तब यह भी सोचता था कि मेरे छात्र मेरी कक्षा में इसलिए हैं, क्योंकि वे वह सब सीखना चाहते हैं जो मैं उन्हें सिखाता था। पर मेरे छात्र स्थिति को कहीं बेहतर समझते थे। वे स्कूल में महज़ इसलिए थे क्योंकि उन्हें वहाँ दाखिल किया गया था। मेरी कक्षा में वे इसलिए थे क्योंकि उन्हें वहाँ भेजा गया था। और फिर वे मेरी कक्षा में न होते तो किसी दूसरी कक्षा में होते, जो सम्भवतः और बुरी हो सकती थी।

बच्चों का स्कूल में आना और उनका डॉक्टर के पास जाना, इन दोनों स्थितियों में समानता है। डॉक्टर यह कहते हुए पगला भी जाए कि उसकी दवा बच्चे के लिए बेहद फायदेमंद है, फिर भी बच्चे का पूरा ध्यान दवा की कड़वाहट या अपनी पीड़ा की ओर ही केंद्रित रहता है।

सच पूछें तो अगर बच्चों का बस चलता तो वे किसी हालत में इन स्थितियों में नहीं फँसते। सो, स्कूल में जो भी बच्चे होते हैं वे एक गरिमामय गंतव्य की ओर आतुरता से कदम बढ़ाने वाले नन्हे यात्रियों की टोली नहीं, बल्कि ज़ंजीरों में जकड़े बंदियों की तरह हैं। वे उस ऊबड़-खाबड़ कँटीली राह पर महज़ इसलिए चलते हैं क्योंकि दंड का भय उनके सामने मुँह बाए खड़ा होता है। सच तो यह है कि अपने गंतव्य को वे कतई देख नहीं पाते, बल्कि आसपास उन्हें ऐसी धुंध घेरे रहती है कि दो कदम दूर की राह तक नज़र नहीं आती। सच, ऐसे ही लगते हैं बच्चों के स्कूल। स्कूल एक ऐसी जगह है जहाँ उन्हें वे भेजते हैं, जहाँ वे उन्हें तमांम ऊटपटाँग कामों को करने को कहते हैं। अगर उनके बताए गए कामों को सही न किया जाए तो वे बच्चों का जीना दूभर कर सकते हैं।

बच्चों के लिए स्कूल में सबसे महत्वपूर्ण काम "सीखना" नहीं है, फिर

चाहे इस धुँधले शब्द का कोई भी अर्थ क्यों न हो। बल्कि उनके लिए मुख्य है रोज़मर्रा के कामों को कर डालना या किसी तरह निपटा देना। असल में दिया गया हर काम बच्चों को एक लक्ष्य लगता है। वे उसे कैसे पूरा करते हैं, इससे उनका कोई सरोकार नहीं होता। अगर वे उसे पूरा कर परे सरका सकते हैं तो वे वैसा कर देते हैं। पर उनका अनुभव यह बताता है कि अगर वे काम स्वयं न कर सकें तो किसी न किसी हथकंडे को अपनाना ही बेहतर होगा। सो वे वैध नहीं तो अवैध तरीके अपनाते हैं। यानी बच्चों को कोई भी काम सौंपने का लक्ष्य ही परास्त हो जाता है।

दूसरों से अपना काम करवाने में बच्चे माहिर होते हैं। वह दिन अभी तक मेरे दिमाग में ताज़ा है जिस दिन रूथ ने मेरी आँखें खोल दी थीं। हम गणित के सवाल कर रहे थे। मैं अपने आप को दाद दे रहा था कि मैं उसे सीधे-सीधे सवाल हल करने का तरीका बताने के बदले सवाल दर सवाल पूछ उसे "सोचने" पर बाध्य कर रहा हूँ। काफी समय लग रहा था इस सबमें। मेरे हर सवाल के जवाब में वह चुप्पी साधे रही। न उसने कुछ किया, न ही कुछ कहा। वह चुप बैठी अपने चश्मे के पीछे से मुझे घूरती रही। मैं हर बार अपने सवालों को आसान करता चल रहा था। पर वह तब तक चुप्पी साधे बैठी रहती जब तक मैं एक आसान सवाल तक न पहुँच जाता। ऐसा मैं इसलिए कर रहा था, ताकि वह बेझिझक उत्तर दे सके। हम यों रेंग रहे थे कि अचानक मैंने गौर किया कि वह तनिक भी सोच नहीं रही थी। वह शान्त मन से मुझे देख रही थी। वह मेरी सहनशक्ति जाँच रही थी और उस प्रश्न का इंतज़ार कर रही थी, जिसका उत्तर देना आसान हो। मैं चौंका। मन में सोचा, "लो, इसने तो मुझे ही फँसा दिया।" रूथ यह सीख चुकी थी कि वह अपना काम मुझसे कैसे करवा ले। ठीक यही तरीका वह दूसरे शिक्षकों के साथ भी अपनाती रही थी। और अगर मैं झक में आकर उसे सीधे-सीधे हल नहीं बताता तो वह मुझसे सवाल दर सवाल होते हुए उत्तर उगलवा ले रही थी।

स्कूल और शिक्षक, दोनों ही बच्चों की रणनीतियों के प्रति उतने ही अंधे होते हैं, जितना मैं था। अन्यथा वे विषयों के पाठ्यक्रम ऐसे बनाते जिनसे केवल सफल छात्रों के ही उत्तीर्ण होने की सम्भावना रहती। केवल वही छात्र उत्तीर्ण होते, जिन्होंने अर्थों पर विचार किया हो। यानी बिना

सोचे-समझे अपनाए गए सारे अवैध हथकंडे विफल रहते। पर स्कूलों में इसका उल्टा ही होता है। स्कूल केवल *उत्पादक* छात्रों को ही उत्साहित करते हैं। ये ऐसे बच्चे होते हैं जिनकी रुचि हर हालत में "सही उत्तर" तक पहुँचने में रहती है व ऐसे ही बच्चे स्कूलों में सफल होते हैं। जो तंत्र ही "सही उत्तरों" पर चलता हो उसमें इसके अलावा हो भी क्या सकता है? यही वजह है कि स्कूल *विचारक* छात्रों को हतोत्साहित करते हैं।

कुछ समय पहले तक मैं यह भी नहीं जानता था कि बुरे छात्र पढ़ाए जाने वाले विषयों के बारे में अच्छे छात्रों से अलग तरह से सोचते हैं। मैं यह मानता था कि वे केवल उन विषयों में अदक्ष हैं। पर अब मुझे लगा है कि जब बच्चों पर असफलता की संभावना और भय हावी होने लगते हैं तो वे एक खास तरह से सोचने और व्यवहार करने पर बाध्य हो जाते हैं। उनकी रणनीतियाँ तब आत्मविश्वास से भरे बच्चों से भिन्न हो जाती हैं। एमिली इसका अच्छा उदाहरण है। उसमें अपने किए हुए काम को तटस्थ हो गौर से देखने की भावनात्मक व बौद्धिक क्षमता ही नहीं है। वह अपने विचारों की वास्तविकता से तुलना नहीं कर सकती। न ही उनका मूल्य तोल पाती है। वह मुझे हमेशा एक ऐसे असहाय जन्तु की याद दिलाती है जो किसी खतरे का सामना कर रहा हो। ऐसा पशु जो हवा के वेग से दौड़ता है, मुड़कर देखता तक नहीं, क्योंकि वह बखूबी जानता है कि पीछे खतरा है। उस खतरे से जितना दूर वह हो सकती है, उतना दूर भाग खड़ी होती है। क्या दूसरों में भी भय की ऐसी प्रतिक्रियाएँ होती हैं?

सितम्बर 22, 1958

अपने शिक्षकों को पहचानने में बच्चों को समय नहीं लगता। कुछ बच्चे तो यह पहले से ही जानते हैं कि शिक्षकों के सामने काफी बोलना चाहिए और तमाम विचार उछालने चाहिए। फिर चाहे वे विचार कितने ही विचित्र क्यों न हों। पर हम उन बच्चों के साथ क्या करें जो सोचते हैं, सोचना चाहते और सोचना पसंद करते हैं, पर बोलना नहीं?

मेरी गणित की कक्षाओं में मेरे सामने एक दुविधा हमेशा रहती है। मैं चाहता हूँ कि बच्चे यह भी सोचें और समझें कि जो कुछ वे कर रहे हैं वह वे क्यों कर रहे हैं। अगर मैं अपने सवाल पेचीदा या कठिन बनाता हूँ तो

मुझे लगता है कि मेरे छात्र मेरे मन को पढ़ने के प्रयास में जुटने लगे हैं। और तब वे अजीबोगरीब विचार, उत्तर के रूप में उछालने लगते हैं। जैसा उन्होंने आज सुबह किया। लगता है उन्होंने मेरी एक टिप्पणी को उसके शाब्दिक अर्थ में ग्रहण कर ही ऐसा किया होगा। मैंने कहा था कि किसी विचार के न होने से बेहतर है कोई गलत विचार होना। यह मैंने इसलिए कहा था ताकि बच्चे पूरे आत्मविश्वास से उत्तर दें। क्या मैं अब भी वहीं कर रहा हूँ जो रूथ के साथ करते हुए मैंने स्वयं को पिछले साल पकड़ा था? क्या मैं अब भी उनके लिए सोच रहा हूँ।सम्भव है कि कोई मध्यम मार्ग हो ही नहीं। शायद मुझे कभी कठिन, तो कभी सरल सवाल उठाने चाहिए।

असल में मुश्किल यह थी कि मैं बहुत अधिक सवाल पूछता था। काफी समय बाद मैंने सवाल करना बंद किया, चुप रहना सीखा। उस चेष्टा को ही दबाया जो मुझे यह जानने के लिए, कि बच्चे सब कुछ समझ गए हैं या नहीं, सवाल करने पर उकसाती थी। हमें अपने शिक्षार्थियों को यह तय करने देना होगा कि वे कब कुछ पूछना चाहते हैं। कई बार उन्हें यह जानने में भी समय लगता है कि उन्हें कौन-सा सवाल पूछना है? सीखने वालों की समझ को सतत जाँचना शिक्षक का सही काम नहीं है। यह दायित्व तो है ही शिक्षार्थी का। और सच तो यह है कि इसकी सही जाँच भी वही कर सकता है। शिक्षक का काम है शिक्षार्थियों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का उत्तर देना। जब वे कुछ खुलासा चाहें तो उनकी समझ को और पैना व स्पष्ट बनाना।

हम बच्चों की समझ को इसलिए जाँचना चाहते हैं न कि हम किसी चीज़ को और साफ समझने में उनकी सहायता कर सकें? पर हम शायद यह नहीं जानते कि बच्चों को जाँच का ऐसा तरीका दूसरी स्कूली परीक्षाओं की तरह ही लगता है। वे इस जाँच से, कक्षा में शिक्षक द्वारा पूछे गए सवालों से और अधिक घबरा जाते हैं, और अधिक भ्रमित होते हैं।

पुस्तक: बच्चे असफल कैसे होते हैं
लेखक: जॉन होल्ट
अनुवाद: पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा
पृष्ठ: 283, वर्ष: 1993,
मूल्य: 40 रुपए
प्रकाशक: एकलव्य, ई-1/208
अरेरा कॉलोनी,
भोपाल - 462 016